

# ‘नगाड़े की तरह बजते शब्द’ में आदिवासी और स्त्री अंतर्मन की अनुगूँज

अनुराग कुमार चौधरी

शोधार्थी, झारखण्ड केन्द्रीय विश्वविद्यालय, रांची (झारखण्ड)

## शोध सारांश

कुल अड़तीस कविताओं से सुसज्जित ‘नगाड़े की तरह बजते शब्द’ मूलतः संथाली भाषा में रचित काव्य-संग्रह है और इसकी कवयित्री निर्मला पुतुल आदिवासी सह नारी विमर्श में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। लेखिका आदिवासी समाज से संबद्ध हैं और स्वयं स्त्री हैं तो उनकी कविता में ‘आदिवासी’ और ‘स्त्री’ दोनों का परस्पर मर्म पूरी साफगोई और प्रभावशाली रूप में अभिव्यंजित हुआ है। पुतुल जी की कविताओं में जब स्त्रीत्व बोलता है तो वह सामान्य स्त्री की बेबसी और आक्रोश को तो बखूबी व्यक्त करता ही है, वहीं साथ ही साथ आदिवासी स्त्री की मनःस्थिति और वस्तुस्थिति की भी भली-भाँति पड़ताल करता है। निर्मला पुतुल की स्त्री अपने होने की, स्वयं के अस्तित्व की तलाश करती नजर आती है। वह पुरुष प्रधान समाज में घर, परिवार, प्रेम, रिश्ते-नाते सम्बन्धों में अपने स्थान को ढूँढती है। वह सदियों से किसी न किसी पुरुष पर निर्भर रही, या फिर उसे रहना पड़ा, या उसे वैसा रहने के लिए बाध्य किया गया। उसे पिता, भाई, पति, पुत्र के सहारे जीवन जीना पड़ा। वह एक ही साथ स्थापित और निर्वासित होती रही है। बचपन से लेकर विवाह तक माता-पिता के घर और विवाह के बाद पति का अनजाना घर...। वह प्रत्येक एकांत समय महसूस करती रही कि ‘मैं कौन हूँ? मेरा स्थान क्या है? मेरा अस्तित्व क्या है? जिन्होंने मुझे जन्म से लेकर अठारह वर्षों तक लाड़-प्रेम, ममत्व दिया। जिस कारण लड़की अपने परिवार से बिछड़ने की कल्पना भी नहीं कर सकती। अचानक विवाह होने के उपरांत अनजाने घर में प्रत्येक स्थितियों में स्थापित करना पड़ता है।

**संकेताक्षर**— आदिवासी विमर्श, स्त्रीत्व, नारी विमर्श, संस्कृति

## प्रस्तावना

आधुनिक काल में सन 1946 में प्रकाशित सिमोन द बाऊर कृत ‘द सेकेंड सेक्स’ नारी विमर्श के प्रस्थान बिंदु के तौर पर अग्रगण्य है, जिसकी मूल स्थापना है कि—‘स्त्री पैदा नहीं होती, स्त्री बना दी जाती है।’ शिमोन कहती हैं—‘स्त्री स्वाधीनता का अर्थ हुआ कि स्त्री-पुरुष से जिस पारस्परिक संबंध को निभा रही है उससे मुक्त हो। हम स्त्री पुरुष के बीच घटने वाले संबंध को नहीं नकार रहे। उसका अपना स्वतंत्र स्त्रीत्व होगा और वह पुरुष की होकर भी जिएगी। दोनों अपनी स्वायत्तता में दूसरे का आनंद रूप भी देखेंगे।’<sup>1</sup> इस दृष्टि से कवयित्री के भीतर का स्त्रीत्व इतना चेतना संपन्न है कि उसके प्रश्न से

पुरुष सत्ता की नीवें दहल उठती हैं। काव्य-संग्रह ‘नगाड़े की तरह बजते शब्द’ की पहली कविता ‘क्या तुम जानते हो’ में वह पुरुषवादी समाज से प्रश्न पूछती हैं—

“तन के भूगोल से परे

एक स्त्री के मन की गांठें खोलकर

कभी पढ़ा है तुमने उसके भीतर का खौलता इतिहास?”<sup>2</sup>

यह ज्वलंत प्रश्न विश्व की समस्त नारियों का सार्वभौमिक प्रश्न है।

आदिवासी महिलाओं के विषय में निर्मला जी लिखती हैं—  
“आदिवासी महिलाएँ जिनके पास भूख है, भूख में दूर तक पसरी उबड़-खाबड़ धरती है, सपने हैं, सपनों से दूर तक पीछा करती

अधूरी इच्छाएँ हैं, जिसकी लिजलिजी दीवारों पर पाँव रखकर वे भागती हैं, बेतहाशा, कभी पूरब तो कभी पश्चिम की ओर.....।”<sup>3</sup>  
‘पहाड़ी स्त्री’ नामक कविता में वह आदिवासी स्त्री का यथार्थपूर्ण चित्र उकेरती हैं—

“चादर में बच्चे को पीठ पर लटकाये

धान रोपती पहाड़ी स्त्री

रोप रही है अपना पहाड़ सा दुख सुख की एक लहलहाती  
फसल के लिए”<sup>4</sup>

पुतुल जी की कविताओं में स्त्री-अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अपने अंचल (झारखंड) की वेदना और आत्मीयता का बहुरंगी चित्रण हुआ है। आदिवासी वर्ग की मूल वेदना का केन्द्र जल, जंगल, जमीन, भाषा एवं संस्कृति की रक्षा है, जो उसकी अस्मिता का अनिवार्य तत्व है। आदिम संस्कृति ही भारतीय संस्कृति की आधारशिला है। प्रसिद्ध आदिवासी साहित्यकार, चिंतक हरिराम मीणा ने लिखा है—“प्रकृति के साथ बेरहम छेड़खानी केवल आदिवासी के अस्तित्व का संकट नहीं है बल्कि संपूर्ण मानवता व मानवोत्तर प्राणी जगत के लिए खतरा है। पर्यावरण प्रेमियों के साथ आदिवासी कविता भी सुर मिलती है।”<sup>5</sup> झारखंड के निरंतर सिकुड़ते और क्षत-विक्षत होते वनक्षेत्र, परंपरा, पर्व, लोकजीवन और आदिवासी संस्कृति की वेदना बहुधा कविताओं में प्रकट हुई है। ‘बूढ़ी पृथ्वी का दुख’ कविता में कवयित्री प्रकृति के शृंगार पहाड़ का दर्द बर्याँ करते हुए कहती हैं—

“कभी महसूस किया है कि किस कदर दहलता है

मौन समाधि लिये बैठा पहाड़ का सीना

विस्फोट से टूटकर जब छिटकता दूर तक कोई पत्थर”<sup>6</sup>  
झारखंड की विलुप्त होती आदिवासी-संस्कृति कवयित्री को भीतर तक झकझोर देती है और इस भयावह दुर्दशा की पीड़ा उनकी कविता ‘संथाल परगना’ में साफ झलकती है—

“कायापलट हो रही है इसकी

तीर-धनुष-माँदल-नगाड़ा-बाँसुरी

सब बटोर लिए जा रहे हैं लोक संग्रहालय, समय की  
मुर्दागाड़ी में लादकर”<sup>7</sup>

आपकी कविताओं में लोक-जीवन के स्तर पर वर्तमान झारखंड में व्याप्त डायन प्रथा, हड़िया (नशीला पेय) पलायन आदि के दंश का दृश्य भी सशक्त रूप से मौजूद है। जहाँ ‘ढेपचा के

बाबू’ शीर्षक कविता में पलायन से उत्पन्न स्त्री की विडंबना का मार्मिक प्रकटीकरण हुआ है—

“ढेपचा के बाबू

तुम तो सब कुछ छोड़-छाड़ चले गए कमाने कश्मीर

भाग गया ढेपचा भी, अपने साथियों के साथ असम”<sup>8</sup>

“आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिक्कों (बाहरी) द्वारा किए गए और किए जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता व अस्तित्व के संकटों और उसके खिलाफ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है।”<sup>9</sup> बाहरी लोगों का झारखंड के भू-भाग पर अतिक्रमण और उनकी तंत्र की चाबी का हकदार होना कवयित्री को तनिक भी नहीं सुहाता और वह नवनिर्मित झारखंड राज्य की स्थापना पर लिखी गई कविता ‘भाई मंगल बेसरा’ में कहती हैं—

“वही तुम्हारे मार्गदर्शक होंगे / नीति निर्देशक होंगे वही

उन्हीं के हाथों में होंगी तुम्हारे मस्तिष्क में खुलने वाले

तमाम कमरों की चाभियाँ”<sup>10</sup>

मुख्यधारा के जनमानस द्वारा आदिवासी समाज को हेय दृष्टि से देखने वाली क्षुद्र मानसिकता की बानगी उनकी कविता ‘मेरा सब कुछ अप्रिय है उनकी नजर में’ स्पष्टतः दृष्टिगोचर है—

“जंगली, असभ्य, पिछड़ा कह

हिकारत से देखते हैं हमें

और अपने को सभ्य श्रेष्ठ समझ नकारते हैं हमारी चीजों  
को”<sup>11</sup>

पुतुल जी की कई कविताओं में भूमंडलीकरण और बाजारवाद से आधुनिक दौर में भी अनजान आदिवासी वर्ग का मर्म प्रस्फुटित होता है, जो मुख्यधारा के विकास की आहट से बेखबर अपने परिधि में सिमटा हुआ जीवन यापन कर रहा है जहाँ बाजारवाद, पूंजीवाद, प्रतिस्पर्धा और भौतिकतावाद से उसका कोई खास सरोकार नहीं है। उनकी कविता ‘पहाड़ी बच्चा’ में दुनिया से बेखबर मासूम आदिवासी बच्चे का प्रश्न कुछ यूँ उभरता है—

“पहाड़ी बच्चा देखता है पहाड़ के ऊपर से गुजरता जहाज

और पूछता है पिता से

उस नए पक्षी के बारे में।”<sup>12</sup>

एक अन्य कविता 'बाहामुनी' में बाजारवादी जागरूकता से नितांत अपरिचित आदिवासी स्त्री का अत्यंत मार्मिक चित्रण है—

“तुम्हारे हाथों बने पत्तल पर भरते हैं पेट हजारों  
पर हजारों पत्तल भर नहीं पाते तुम्हारा पेट”<sup>13</sup>

आपकी कविताओं में अपने अंचल की वेदना के स्वर के साथ माटी से गहरी आत्मीयता का स्वर भी द्रष्टव्य है। चूंकि आदिवासी दर्शन में प्रकृति का महत्व सर्वोपरि है और इसकी अवधारणा है—“सृष्टि सर्वोच्च नियामक सत्ता है। संपूर्ण सजीव और निर्जीव जगत तथा प्रकृति सबका अस्तित्व एक समान है। मनुष्य का धरती, प्रकृति और सृष्टि के साथ सहजीवी संबंध है।”<sup>14</sup> 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा' शीर्षक कविता में कन्या अपने पिता से कहती है—

“जंगल नदी पहाड़ नहीं हों जहाँ  
वहाँ मत कर आना मेरा लगन”<sup>15</sup>

एक अन्य कविता 'आदिवासी लड़कियों के बारे में' कवयित्री ने आदिवासी लड़कियों के सौंदर्य का आत्मीय वर्णन किया है—

“जूड़े में खोंसकर हरी-पीली पत्तियाँ  
जब नाचती हैं कतारबद्ध  
माँदल की थाप पर  
आ जाता तब असमय वसन्त”<sup>16</sup>

'नगाड़े की तरह बजते शब्द' काव्य-संग्रह की रचयिता निर्मला पुतुल की कवितायें आदिवासी जीवन के क्षय का रोष और जय के घोष का जीवंत दस्तावेज है, जिसमें झारखंड अंचल के आदिवासी और स्त्री जीवन के बहुरंगी कोलाज तो मौजूद हैं ही, पर साथ ही साथ पथ-प्रदर्शक की भूमिका में उम्मीद की किरण और आह्वान के जज्बे से संपक्व उनकी कई कविताएं इस काव्य-संग्रह को विशिष्ट दर्जे में शुमार कर देती हैं। जहाँ 'धीरे-धीरे' शीर्षक कविता में आदिवासी चेतना का स्वर मुखर है—

“बटोर पृथ्वी की पूरी ऊर्जा, उठेगा धीरे-धीरे जमीन से  
जमीन पर गिरा आदमी

और अपने लड़खड़ाते कदमों से नापते दूरियाँ पहुंच जाएगा वहाँ  
जहाँ उस जैसे तमाम आदिमियों पर बहस चल रही होगी”<sup>17</sup>

कवयित्री का 'मैं चाहती हूँ' कविता में आह्वान और जागरण का स्वर उनके काव्य-संग्रह के उद्देश्य की सार्थकता को स्वयं सिद्ध कर देता है—

“चाहती हूँ मैं, नगाड़े की तरह बजे  
मेरे शब्द, और निकल पड़ें लोग अपने-अपने घरों से सड़कों  
पर।”<sup>18</sup>

आदिवासी समाज में भी स्त्रियों का शोषण करने के लिए विभिन्न तरह के तर्क पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने बनाए हैं। समाज ने स्त्रियों को कुछ काम करने से मना किया, उसके लिए पुरुष समाज ने यह तर्क दिया है कि शारीरिक बनावट के आधार पर यह विभाजन किया गया है। लेकिन ऐसा नहीं की आदिवासी समाज में पितृसत्ता को बनाए रखने के लिए यह तर्क दिया गया है। यह एक तरह से स्त्रियों के ऊपर अधिकार जताने जैसा ही है। आदिवासी समाज में स्त्रियों को हल चलाना, घर का छप्पर छाना और धनुष चलाना वर्जित है। इन चीजों पर अगर हम गौर करेंगे तो पाएँगे कि यह चीजें जमीन और सम्पत्ति की प्रतीक है और यह वर्जनाएँ इस बात का द्योतक हैं कि सम्पत्ति पर पुरुषों का ही अधिकार रहे। निर्मला पुतुल ने 'सजोनी किस्कू' नामक एक आदिवासी महिला को लेकर एक कविता लिखी है—

“बस! बस!! रहने दो।  
कुछ मत कहो सजोनी किस्कू  
मैं जानती हूँ सब  
जानती हूँ कि अपने गाँव बागजोरी की धरती पर  
जब तुमने चलाया था हल  
तब डोल उठा था  
बस्ती के माँझी-थान में बैठ देवता का सिंहासन  
गिर गई थी पुश्तैनी प्रधानी कुर्सी पर बैठ  
मगजहीन माँझी 'हाड़ाम' की पगड़ी  
पता है बस्ती की नाक बचाने खातिर  
तब बैल बनाकर हल में जोता था  
जालिमों ने तुम्हें  
खूँटे में बाँधकर खिलाया था भूसा।”<sup>19</sup>

आदिवासी महिलाएँ बहुत मेहनती और संघर्षशील होती हैं जिसका फायदा अन्य समाज के लोग उठाते हैं। आदिवासी

समाज एनजीओ संस्थाओं के लिए वरदान की तरह है। आदिवासी इलाकों में एनजीओ सामाजिक विकास के नाम पर कुकुरमुत्ते की तरह फैले हैं। वहाँ उन केंद्रों पर आदिवासी महिलाओं को काम पर रखते हैं और उनका शोषण करते हैं। “आदिवासी बहुल इलाकों में फील्डवर्कर के रूप में लगभग 70 प्रतिशत कार्यकर्ता आदिवासी महिलाओं को बनाते हैं, बाकी 30 प्रतिशत गैर-आदिवासी स्त्री-पुरुष कार्यकर्ता है।”<sup>10</sup> जो एनजीओ समाज को शोषण से मुक्ति दिलाने की बात करते हैं, वहीं दूसरी तरफ खुद अपने कार्यकर्ताओं का शोषण करते हैं और यह शोषण केवल मानसिक स्तर पर नहीं होता बल्कि शारीरिक स्तर पर भी होता है। विडम्बनापूर्ण स्थिति यह है कि उन महिलाओं की कहीं सुनवाई भी नहीं होती। आदिवासी स्त्रियों को उनके पति ग्राम-प्रधानों से पैसे लेकर बेच देते हैं और ग्राम प्रधान इन्हें शहरों में भेज देता है। निर्मला पुतुल ने इस प्रकार की एक स्त्री की नियति पर एक कविता लिखी है—

“कैसा बिकाऊ है तुम्हारी बस्ती का प्रधान  
जो सिर्फ एक बोतल विदेशी दारू में रख देता है  
पूरे गाँव को गिरवी  
और ले जाता है कोई लकड़ियों का गड्ढर की तरह  
लादकर अपनी गाड़ियों में तुम्हारी बेटियों को  
हजार पाँच सौ हथेलियों पर रखकर  
पिछले साल  
धनकटनी में खाली पेट बंगाल गयी पड़ोस की बुधनी  
किसका पेट सजाकर लौटी है गाँव?”<sup>20</sup>

निर्मला पुतुल की इस कविता में एक आदिवासी स्त्री की नियति का अंदाजा हमें आसानी से लग जाता है। संताली समाज ने सजोनी किस्कू को हल चलाने की सजा उसे खूँट में बाँधकर भूसा खाने की दी थी, लेकिन वहीं संताली पुरुष यह भूल गए कि संताली विद्रोह के समय स्त्रियों ने ही हल जोतने से लेकर फसल काटने तक के सारे काम किए थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पितृसत्तात्मक समाज ने सारे नियम अपने हितों के लिए बनाए हैं, जब मन करता है तो तोड़ देता है, जब मन करता है तो उसे लागू कर देता है। बिटिया मुर्मु इस प्रथागत कानून के विरुद्ध आवाज उठाती हैं

“आदिवासी समाज की स्त्रियों को उनके प्रथागत कानूनों के आधार पर संपत्ति के अधिकार से वंचित रहने देना सरासर अन्याय है। हो सकता है कि कानून परिवर्तन से सम्बन्धों में कुछ खटास पैदा हो या विरोध हो लेकिन यह भी सत्य है कि जब भी बुनियादी ढाँचे में परिवर्तन हुआ या दबे कुचले लोगों को अधिकार मिला तो समकालीन जड़ समाज अपना आतंक फैलाता है पर सकारात्मक परिवर्तन के लिए समाज व कल्याणकारी सरकार को डटकर मुकाबला करना ही होगा।”<sup>21</sup>

### निष्कर्ष

निर्मला पुतुल जी ने अपने कविता संग्रह में न केवल पुरुष व्यवस्था के प्रति विद्रोहात्मक कवितायें लिखी बल्कि आदिवासी स्त्री की वेदना, दर्द की अभिव्यक्ति करने वाली कवितायें कठोर हृदय को पिघला भी देती है। उन्होंने देखे और भोगे हुए सत्य का काव्य में हुबहू चित्र खिंचा है। उन्होंने जो भी कहना चाहा, कबीर और निराला की भाँति बेबाक एवं बिनधास्त कहा। वह डंके की चोट पर कहती है – ‘पर तुम बताओं, यह कैसे संभव है/ आँख रहते अन्धी कैसे हो जाऊ मैं ?/ कैसे कह दूँ रात को दिन ?/ खून को पानी कैसे लिख दूँ ?/’ संग्रह की अन्य कविताओं में झारखण्ड के संथाल आदिवासी स्त्री के सौन्दर्य, गीत, संगीत और नृत्य का चित्रण हुआ है। साथ ही आदिवासियों के भोलेपन, ईमानदारी, दरिद्रता का बाहरी लोग किस तरह फायदा उठाते हैं। आदिवासियों को ‘यूज एंड थ्रो’ किया जाता है। इस पर कवियत्री उन्हें अपने अस्तित्व का अहसास दिलाते हुए फटकार भी लगाती है। सदियों से पुरुष व्यवस्था को सहने वाली स्त्री घर, प्रेम, जाति, समाज से परे आक्रोश प्रकट करते हुए अपना अस्तित्व बनाना चाहती है। वह मुक्त गगन में स्वच्छंद उड़ना चाहती है।”

समकालीन वैश्विक परिदृश्य में भारत ही नहीं अपितु समूचा विश्व आज प्रकृति संरक्षण और जलवायु परिवर्तन के संतुलन का महत्व समझ रहा है। आज जब मनुष्य द्वारा प्रकृति का निरंतर दोहन और पारिस्थितिकीय तंत्र में अतिशय हस्तक्षेप नाना प्रकार की विसंगतियों और महामारियों को जन्म दे रहा है, तब ऐसे में सदा से हाशिये पर समझा जाने वाला यही आदिवासी-वर्ग श्रद्धा का पात्र बनकर उभरता है, जिसने सहस्राब्दियों से अपनी आदिम दिनचर्या में प्रकृति के साथ मैत्रीपूर्ण सामंजस्य को अक्षुण्ण रखा और स्वयं को विकास की तथाकथित होड़ से दूर रखा।

**संदर्भ ग्रंथ सूची**

1. खेतान, प्रभा, द सेकेंड सेक्स (स्त्री उपेक्षिता), अनुवाद हिन्द पॉकेट बुक्स प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1992, पृ.सं. 346
2. पुतुल, निर्मला, नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2004, पृ.सं. 08
3. चौधरी, उमाशंकर, हिस्सेदारी के प्रश्न-प्रतिप्रश्न (सं.), अनामिका प्रकाशन, प्रयागराज, 2009, पृ.सं. 203,
4. पुतुल, निर्मला, पूर्वोक्त, पृ.सं. 36
5. मीणा, हरिराम, समकालीन आदिवासी कविता (सं.), अलख प्रकाशन, जयपुर, 2013, पृ.सं. 10
6. पुतुल, निर्मला, पूर्वोक्त, पृ.सं. 32
7. उपर्युक्त, पृ.सं. 26
8. उपर्युक्त, पृ.सं. 40
9. मीणा, गंगासहाय, आदिवासी साहित्य विमर्श (सं.) अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2013, पृ.सं. 09
10. पुतुल, निर्मला, पूर्वोक्त, पृ.सं. 58
11. उपर्युक्त, पृ.सं. 72
12. उपर्युक्त, पृ.सं. 39
13. उपर्युक्त, पृ.सं. 12
14. टेटे, वंदना, आदिवासी दर्शन और साहित्य(सं.), प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची (झारखंड), 2004, पृ.सं. 34
15. पुतुल, निर्मला, पूर्वोक्त, पृ.सं. 49
16. उपर्युक्त, पृ.सं. 17
17. उपर्युक्त, पृ.सं. 85
18. उपर्युक्त, पृ.सं. 93
19. गुप्ता रमणिका (सपा.), युद्धरत आम आदमी, रमणिका फाउंडेशन, हजारीबाग. (झारखंड), पूर्णांक 55, 2001, पृ.सं. 72
20. उपर्युक्त, पृ.सं. 96
21. उपर्युक्त, पृ.सं. 95